विक्रम संवाद

पाक्षिक आलेख सेवा/नि:शुल्क वितरण के लिए

सम्पादक
महाराजा विक्रमादित्य शोध पीठ
1, उदयन मार्ग, उज्जैन-456010
फोन : 0734-2521499, 0755-2660407
e-mail : mvspujjain@gmail.com
vikramadityashodhpeeth@gmail.com

इस अंक में

पृष्ठ क्र. 1-3
विक्रमादित्यकालीन न्याय व्यवस्था
प्रशांत पुराणिक

पृष्ठ क्र. 4-5
उज्जयिनी का आभूषण उद्योग
डॉ. किरण शर्मा

पृष्ठ क्र. 6-7
पुस्तक चर्चा
वैदिक कालीन रूपंकर कलाएं
राजेश्वर त्रिवेदी

पृष्ठ क्र. 8
कविता
रे सोये विक्रम जाग! जाग!!
शलभ

विक्रमादित्यकालीन न्याय व्यवस्था

प्रशांत पुराणिक

विक्रमादित्य और समकक्ष काल का इतिहास विस्तृत रूप से प्राप्त होता है। विक्रमादित्य के शौर्य-पराक्रम तथा उसके दरबारियों की सांस्कृतिक गतिविधियों के कारण रोमांचक तथा महत्वपूर्ण जानकारी से ओत-प्रोत साहित्यिक विवरण, अनेक किवदंतियाँ, परम्पराएँ और ऐतिहासिक जानकारी आज भी इतिहास की विषय सामग्री नहीं बन पायी है। विक्रमादित्य उज्जैन के अनुश्रुत राजा थे, जो अपने ज्ञान, वीरता और उदारशीलता के लिए प्रसिद्ध थे। विक्रमादित्य की उपाधि भारतीय इतिहास में बाद के कई अन्य राजाओं ने प्राप्त की थी, जिनमें गुप्त सम्राट चन्द्रगुप्त द्वितीय और सम्राट हेमचन्द्र विक्रमादित्य, जो हेमू के नाम से प्रसिद्ध थे, उल्लेखनीय हैं। विक्रमादित्य को गर्दभिल्ल वंश का माना जाता है। गर्दभिल्ल वंश के गंदर्भसेन के पुत्र विक्रमादित्य और भर्तृहरि तथा पुत्री सौम्यना मानी गई हैं। विक्रमादित्य उज्जैन के राजा थे, जो अपने ज्ञान, वीरता और उदारशीलता के लिए प्रसिद्ध थे। सम्राट विक्रमादित्य ने शकों को पराजित किया था। उनके पराक्रम को देखकर ही उन्हें महान सम्राट कहा गया और उनके नाम की उपाधि कुल 14 भारतीय राजाओं को दी गई। भारतीय परम्परा के अनुसार धन्वन्तरि, क्षपणक, अमरसिंह, शंकु, खटकरपर, कालिदास, बेतालभट्ट या (बेताल भट्ट), वररुचि और वराहमिहिर उज्जैन में विक्रमादित्य के राज दरबार का अंग थे। कहते हैं कि राजा के पास नवरत्न कहलाने वाले नौ ऐसे विद्वान थे। कालिदास प्रसिद्ध संस्कृत राजकवि थे। वराहमिहिर उस युग के प्रमुख ज्योतिषी थे, जिन्होंने विक्रमादित्य की बेटे की मौत की भविष्यवाणी की थी। बेतालभट्ट एक धर्माचार्य थे। माना जाता है कि उन्होंने विक्रमादित्य को सोलह छंदों की रचना नीति-प्रदीप (आचरण का दिया) का श्रेय दिया है।

विक्रमार्कस्य आस्थाने नवरत्नानि
धन्वन्तरि: क्षपणकोऽमरसिंह: शंकूवेताळभट्टघटकर्परकालिदासा:
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेस्सभायां रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य ।।

राजा विक्रमादित्य नाम, विक्रम और आदित्य के समास से बना है, जिसका अर्थ पराक्रम का सूर्य या सूर्य के समान पराक्रमी है। उन्हें विक्रम या विक्रमार्क (विक्रम अर्क) भी कहा जाता है (संस्कृत में अर्क का अर्थ सूर्य है)। अनुश्रुत विक्रमादित्य, संस्कृत और भारत के क्षेत्रीय भाषाओं, दोनों में एक लोकप्रिय व्यक्तित्व हैं। उनका नाम बड़ी आसानी से ऐसी किसी घटना या स्मारक के साथ जोड़ दिया जाता है, जिनके ऐतिहासिक विवरण अज्ञात हो, हालाँकि उनके इर्द-गिर्द कहानियों का पूरा चक्र फला-फूला है।

प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व में विक्रमादित्य नामक सम्राट भारत का शासक था। संस्कृत साहित्य में इससे संबंधित अनेक वर्णन प्राप्त होते हैं, जैसे कथासरित्सागर तथा बृहत्कथामंजरी आदि। जैन परम्परानुसार कालकाचार्य कथानक से भी यह ज्ञात होता है कि ईसा पूर्व पहली शती में शकों (सिथियन) का मालवा पर आक्रमण हुआ था। उस समय उज्जैन में गर्दभिल्ल नामक राजा राज्य करता था। उसने जैन मुनि कालकाचार्य की संन्यासिनी भगिनी को जबरदस्ती में रखा। तब कालकाचार्य सिन्ध प्रांत के शकों की सहायता से गर्दभिल्ल की हत्या की। उसके बाद शकों का अधिकार उज्जयिनी पर केवल चार वर्ष रहा। तत्पश्चात् गर्दभिल्ल उसने अपने अन्त:पुर के पुत्र विक्रमादित्य ने उन्हें खदेड़कर ईसा पूर्व 57 में अपना संवत् प्रारंभ

किया। डॉ. आल्तेकर को परम्परागत कथा सम्भवनीय लगती थी।

शकानां वंशमुच्छिद्य कालेन कियतापि हि ।
राजा श्री विक्रमादित्य: सार्वभौमोपमो भवत् ।।
स चौन्नतमहासिद्धि: सौवर्णरूपोदयात् ।
मेदिनीमनृणां कृत्वा चक्रिरे वत्सरं निजम् ।।

शूदक के पाप्रामृतक भाण (श्लोक 24), ईश्वरदास के धूर्तविट संवाद (58/2) तथा श्यामिलक के पादताडितक (18/6) दत्तक सूत्रों के उल्लेख प्राप्त होते हैं। कामसूत्र के अनुसार पाटलिपुत्र की गणिकाओं के अनुरोध पर दत्तक ने वैशिक अधिकरण की रचना की। चतुर्भाणी में दत्तक के कई बार उल्लेख हुए है परन्तु वात्स्यायन के कामसूत्र का उल्लेख नहीं पाया जाता है। कुटनी मत (77) दत्तकाचार्य और वात्स्यायन का उल्लेख पाया में जाता है -

वात्स्यायानमयमबुधं बाहान्दूरेण दत्तकाचार्यान् ।
गणयति मन्मथतन्त्रे पशुतुल्यं राजपुत्रं च ।।

राजा भोज की श्रृंगारमंजरी कथा में दत्तक द्वारा विरचित वैशिक रहस्यों का उल्लेख पाया जाता है। वहाँ राजा विक्रमादित्य के समकालीन उज्जयिनी के विणिक् दत्तक के भी उल्लेख प्राप्त होते हैं। मूलदेव सम्बन्धी कई प्राचीन कथाएँ सदियों तक प्राप्त होती रही हैं। वह उज्जैन के राजा विक्रमादित्य का सभासद बताया गया है। वृहत्कथा जैसे पैशाची अनार्ष काव्य में मूलदेव चरित की चर्चा नाट्यशास्त्रटीका में अभिनव गुप्त ने की है। कथासरित्सागर के विषमशील लम्बक और बेताल पंचविंशति में मूलदेव की कथाएँ हैं। क्षेमेन्द्र की बृहत्कथामंजरी के भी उन्हीं प्रसंगों में मूलदेव की कथाएँ हैं। उन कथाओं से भी उसकी धूर्तता ही प्रकट होती हैं। उन कथाओं में मूलदेव के साथ उसके मित्र शश या शशी की भी चर्चा पायी जाती हैं। भारतवर्ष के आदर्श नरेश आदर्श की भावना मात्र रह गया है। विक्रमादित्य का नाम लेते ही हमारे हृदय-पटल पर एक शासक की तसवीर प्रकट होती है। विक्रमादित्य के विषय में प्रचलित दन्त कथाओं में ऐतिहासिक सत्य कितना है, यह विवाद का विषय है परन्तु उनमें भारतीय जनता की विक्रम-भावना का पूर्ण माश है इसमें सन्देह नहीं। भारतीय न्याय का सच्चा आदर्श क्या इसे पूरी तरह जानने के लिए हमें प्राचीन स्मृतियों के साथ इन विक्रमादित्य विषयक दन्त कथाओं से भी सहायता मिल सकती हैं।

विक्रमादित्यकालीन सिंहासन : विक्रमादित्य के नाम के साथ जनश्रुति ने दो वस्तुओं को अमिट हर से सम्बद्ध कर दिया है। एक तो बत्तीस वाचाल पुतलियों से युक्त इनका सिंहासन और दूसरा उनका सतत साथ देने वाला बेताल। अत: हमे विक्रमादित्य के सिंहासन का वर्णन जनश्रुति एवं अनुश्रुति के अनुसार करना आवश्यक है। सिंहासन बत्तीसी की कथा है कि एक बार इन्द्रलोक में इस बात की होड़ लगी कि रम्भा और उर्वशी में अधिक कलापूर्ण नृत्य किसका है। इसका निर्णय करने के लिए प्रसिद्ध कला पारखी वीर विक्रमादित्य स्वर्ग में बुलाए गए और उन्होंने अपनी कला-मर्मज्ञता से इन्द्र-सभा को प्रसन्न कर दिया। इन्द्र ने उन्हें एक अत्यन्त दिव्य सिंहासन उपहार में दिया। इन्द्र से प्राप्त विक्रमादित्य के सिंहासन में बतीस पुतलियाँ हुई थी और उनके सिर पर चरण रखकर इस सिंहासन पर आसीन होते थे, ऐसा सिंहासन बत्तीसी के एक पाठ में लिखा है। इससे यह ज्ञात होता है कि सिंहासन के ऊपर बढ़ने की जो सीढ़ियां थी। उन पर जिससे यह ज्ञात होता है कि उस सिंहासन में बतीस उपसिलाम बत्तीस पुतलियाँ बनी हुई थीं, परन्तु इसी का दूसरा पान मिलता है 'पाये' हो सकता है अथवा सिंहासन की सीहियो। एक तीसरे पास और उनमें यह बत्तीस पुतलियाँ लगी हुई थी। उप लिहालका केवल यह लिखा है कि उस सिंहासन में देवीप्यमान जज बीस पुतलियाँ थीं। इसी से मिलता-जुलता उज्जैन में उल्लेखित वह सिंहासन बत्तीस पुतलियों से सुभाजित विक्रमादित्यकालीन सिंहासन के इन पुतलियों के विषय में से एक कथा प्रचलित है। यह बत्तीस पुतलियाँ पूर्व में पार्वती की बत्तीय सुरांगनाएं थीं। उन्हें भगवान शिव ने एक बार विलासपूर्ण दृष्टि देखा, जिसे भगवती गौरी ने देख लिया और क्रुद्ध होकर श्राप दिया कि निजीव पुतलिकाएँ इन्द्र के सिंहासन से लग जाओ। इस कथा कल्पना और भी स्पष्ट हो जाती है। इन्द्र प्रदत्त विक्रम के इस सिंहासन मूल रूप कल्पित करने से पूर्व प्राचीन शिल्प शास्त्र में वर्णित सिंहासन के आकार-प्रकार पर दृष्टि डालना उपयुक्त होगा। सिंहासन का तात्पर्य है सिंह मुद्रित मनोहर आसन। यह सिंहासन से पुतलिकाओं के मारे जाने के पूर्व की इस कथा से सिंहासन राजाओं के लिए होता होगा।

राजाओं के राज्याभिषेक के लिए सिंहासन का होना आवश्यक समझा गया है। प्राचीन भारत में या संसार के समस्त प्राचीन या अर्वाचीन देशों में राज्याभिषेक के समय विशिष्ट एवं बहुमूल्य आसनों का उपयोग होता रहा है। प्राचीन भारत में अभिषेक की चार स्थितियां मानी गई है और उनके अनुसार चार प्रकार के सिंहासनों का वर्णन है-(1) प्रथमासन (2) मंगलासन (3) वीरासन और (4) विजयासन। इन आसनों के भी दस प्रकार बताए गए हैं - (1) पद्मासन (2) पद्मकेसर (3) पद्मभद्र (4) श्रीभद्र (5) श्रीविशाल (6) श्रीबन्ध (7) श्रीमुख (8) भद्रासन (9) पदमबंध और (10) पादबंध। बैठने वाले नरेन्द्र की स्थिति के अनुसार ये आसन बनवाये जाते थे। पद्मासन नामक सिंहासन शिव अथवा विष्णु के लिए होता था। पद्मभद्र चक्रवर्ती नरेश प्रयोग करते थे, श्रीमुख मंडलेषों के काम में आता था और पादबंध अष्टगृह राजाओं के उपयोगी वस्तु थी। सिंहासन के पाए सिंह की आकृति के होते थे परंतु पादबंध आसनों में वैश्य तथा शुद्र जाति के छोटे राजाओं के आसनों में सिंह की आकृति नहीं बनाई जाती थी और उनके केवल चार पाए होते थे। अन्य सिंहासनों के छ: पाये होते थे।

हिन्दू धर्मशास्त्र के सिद्धान्त के अनुसार राजा की अथवा राज संस्था की उत्पत्ति देवी बताई गई है। इस संसार में भयानकता के रक्षार्थ ईश्वर ने राजा को बनाया और इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, कारण जो कष्ट फैले हुए थे उन्हें मिटाने के लिए तथा जगत के वरण, बन्द तथा कुबेर के अंश से उसका निर्माण किया। यदि राजा को केवल एकतंत्री राजा से न मानकर शासन करने वाली संस्था के प्रतिनिधि से लिया जाय तो ये लक्षण किसी भी शासन-प्रणाली से लागू हो सकते हैं।

इस राजा के अधिकार का मूल धर्मशास्त्र के अनुसार राज्याभिषेक संस्कार है। प्राचीन ग्रंथों में अभिषेक की जो रीति वर्णित है, उसमें सिंहासन का प्रथम स्थान है। राज्याभिषेक का सिंहासन प्रारंभ में खदिर की लकड़ी का बना होता था और उस पर सिंह की चर्म बिछी रहती थी। यह अत्यन्त विशाल होता था। अभिषेक के अतिरिक्त राजसभा, न्यायसभा एवं यज्ञों में भी राजा सुन्दर सिंहासनों पर आरूढ़ होता था। राजा अथवा राजसंस्था की उत्पत्ति जब दैवीय है, तो यह आवश्यक है कि सिंहासन की कल्पना के साथ-साथ दैवीय भावना सम्बद्ध की जाय। विक्रम के सिंहासन को भी इन्द्र द्वारा प्रदत्त कल्पित किया गया है। उसमें जो सौंदर्यवर्द्धन के लिए बत्तीस पुतलिकाएँ लगी हैं, वे देवांगनाएँ हैं, और इतनी सुन्दर है कि जिन्हें देखकर कामारि शंकर ने मन में भी मोह हुआ। अत: स्पष्ट है कि इस सिंहासन में जिन-जिन बातों की कल्पना की गई है, जो सार्थक और सहेतुक हैं।

विशेषता, उस विक्रमादित्यकालीन सिंहासन की एक अन्य पर बैठने का प्रभाव भी दिखाई देता है। कथाओं के अनुसार इस सिंहासन को देते समय इन्द्र ने विक्रमादित्य से कहा था कि इस सिंहासन पर बैठना और संसार की रक्षा करना। इस पर बैठने का प्रभाव भी अद्भुत था। महादरिद्र बाह्मण भी जब उस टीले पर चढ़ता था, जिसके नीचे यह सिंहासन दबा हुआ था, तो उसका हृदय अत्यन्त उपात्त एवं उदार विचारों से भर जाता या। राजा भोज ने भी इसकी परीक्षा ली थी। वह स्वयं उस टीले पर चढ़ा और उनके हृदय राजोचित विचारों का उदय इस प्रकार हुआ। मैं संसार की रक्षा करूँगा, सब के दु:ख और क्लेशों का हरण कर समस्त संसार के कल्याण का प्रयास कर दैत्य का नाश करूँगा, पाप का उन्मूलन कर दूंगा, साधुओं का परित्राण, दुष्टों का विनाश करूँगा। सिंहासन पर बैठने का प्रभाव ही इस प्रकार है कि राजा में उपयुक्त गुणों का अपने स्फुरण हो और जिस राजा में ये गुण न हो और प्रयत्न करने पर उत्पन्न भी न हो सकते हों, उसे राज सिंहासन पर आसीन होने का अधिकार नहीं है, इस सिद्धान्त के प्रतिपादन के लिए ही मानो विक्रमादित्यकालीन सिंहासन बत्तीसी लिखी गई है।

विक्रमादित्य के परलोक गमन के पश्चात् जब मंत्रियों ने देखा कि ऐसा गुणवान राजकुमार उसके वंश में नहीं है तो उसे अपवित्र और लांछित कराने के बजाय भूमि में गाड़ देना उचित समझा और एक सहस्त्र वर्ष बाद राजा भोज ने उस पर आरोहण का प्रयत्न किया, तो एक-एक पुतली ने विक्रम के एक एक गुण का वर्णन किया और बहुत चुभता हुआ एवं सीधा प्रश्न राजा भोज से किया, यदि तुझमें ये गुण हो तभी तू इस सिंहासन पर चढ़। काशी प्रसाद जायसवाल में लिखा है-आविद् या घोषणा के राजा काठ के सिंहासन (आसन्दी) पर आरूढ़ होता है, जिस पर साधारणत: शेर की खाल बिछी रहती है। इस अवसर के लिए चार मंत्र हैं। जब हाथी दाँत और सोने के सिंहासन बनने लगे, तब भी काठ के सिंहासन का व्यवहार किया जाता था। यज्ञों में भरतों के सिंहासन की बनावट या तर्ज प्रसिद्ध है। राजा के लिए बहुमूल्य सिंहासन का निर्माण संसार के प्राय: सभी देशों में होता था। राज्याभिषेक के उपरांत भी उनका उपयोग होता था। योरप में पहले यह मंच के ऊपर होता था, जिसमें सीढ़ियां लगी होती थी। इस पर आसीन होना वहाँ के राज्यारोहण-समारोह का एक विशेष अंग था। सुलेमान के तख्त के विषय में कल्पना है कि वह हाथी दाँत का बना हुआ था और उस पर स्वर्णस्तर पढ़े हुए थे. उसके बाजुओं में दो सिंहों की मूर्तियाँ थीं और उसकी छ: सीढ़ियों पर सिंह के जोड़े बने हुए थे।

फारस के अब्बास नामक सम्राट का सिंहासन सफेद स्फटिक का बना हुआ था रूस के पीटर महान् के प्रपिता जार माइकेल फियोडोरोविच के स्वर्ण सिंहासन में आठ सहन नीलमणि, पन्द्रह सौ माणिक्य और दो विशाल पुखराज जड़े हुए थे। भारत के मुगल सम्राट् शाहजहाँ का मयूर-सिंहासन अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। उसमें चाँदी की सीढ़ियाँ हैं। उसके पाए सोने के थे, उसमें रत्न जड़े हुए थे और उसमें मयूर के पंखों की रत्नजडित आकृति बनी हुई थी। उसकी लागत बारह करोड़ स्वर्ण-मुद्रा मानी जाती है। सम्राट् और राजा ही नहीं, साधु-सन्त भी अपने विशिष्ट सिंहासनों पर बैठते हैं। योरप के पोप का अत्यन्त सुन्दर एवं बहुमूल्य आसन हैं।

भारत में बुद्ध भगवान को मूर्तियों एवं चित्रों में सिंहों से अंकित आसनों पर आसीन चित्रित किया है। यह सब वर्णन प्रसंग वश किया गया है। इस लेख का उद्देश्य अनुश्रुति और जनश्रुत में कल्पित विक्रम के सिंहासन का रूप निरूपण करना ही है। यह रूप हमें सिंहासन बत्तीसी के विविध पाठों के अध्ययन से तथा उसके साथ सिंहासन की शास्त्रीय कल्पना से स्पष्ट हो जाता है। सिंहासन बत्तीसी के रचयिता तथा प्रतिकल्पकारों का अन्य उद्देश्य चाहे जो रहा हो, परन्तु उसमें राज्य-सिंहासन का अत्यन्त मनोहर वर्णन और राज-धर्म की विस्तृत, हृदयग्राही एवं स्पष्ट व्याख्या मिलती है और उनका संबंध भारत के शौर्य, औदार्य एवं विक्रम के प्रतीक विक्रमादित्य से कर दिया गया है।

उज्जयिनी का आभूषण उद्योग

डॉ. किरण शर्मा

इतिहास-रचना के संदर्भ में यद्यपि पुरातत्व और साहित्य एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। उज्जयिनी का उत्खनन इसका अपवाद नहीं है। किंतु परम्परा और साहित्य में उज्जयिनी की जो गौरव गाथा है, उसकी सम्पुष्टि प्रस्तुत उत्खनन (1954-55) से संभव न हो सकी।

उत्खनन के आधार पर उज्जैन में आबादी की प्राचीनता लगभग 750-600 ई.पू. ठहरती है। उत्खनन निदेशक श्री नील रतन बनर्जी इसे उज्जैन का प्रथम पुरातात्विक काल (Period II) कहते हैं जो लगभग 500 ई.पू. तक चलता रहा। इस युग में लोहे का उपयोग होने लगा था और लौह उपकरण से बहुत सी महत्वपूर्ण उपलब्धियाँ सिद्ध कर ली गयी थी।

ताम्र उपकरणों से यह भी सिद्ध होता है कि लौह-युग में प्रविष्ट हो जाने के बाद भी उज्जैनवासी अपने भौतिक जीवन में परम्परावादी थे तथा लौह युग की उपलब्धियों के साथ-साथ ताम्र अथवा ताम्र पाषाण युगीन सांस्कृतिक उपादानों के साथ तालमेल बैठाये हुए थे। अतः अन्य प्राचीन नगरों की तरह उज्जैन मे मिश्रित अर्थ व्यवस्था थी।

उत्तरी भारत के सुप्रसिद्ध शोडष महाजनपदों में अवन्ती शामिल था और उज्जैन सामरिक दृष्टि से एक अत्यन्त सुदृढ़ गढ़ था। उत्खनन से ज्ञात होता है कि यहाँ के प्रथम निवासी भी दुर्ग निर्माण में कुशल थे और सामरिक अथवा नागरिक सुरक्षा में किलेबन्दी का महत्व जानते थे। अवन्ती के आनुश्रुतिक इतिहास के चण्डप्रद्योत की प्रचण्डता का प्रमाण में आज का गढ़कालिका का ध्वंस है। उत्खनन से ज्ञात होता है कि यह एक विशाल दुर्ग था जो अपने भीतर 1.6X1.2 कि.मी. का क्षेत्र सुरक्षित किये हुए था। इसमें राजा, राज वर्ग, सेना और सैनिक अधिकारी रहते थे तथा इसके भीतर एक विशाल अस्त्रागार था। उत्खनन से लोहे, तांबे, हड्डी आदि के अनेक अस्त्र मिले हैं। प्रथम काल में इस नगर का प्राचीर कच्ची मिट्टी का बना हुआ था जिसमें दृढ़ता के लिए विभिन्न स्थानों पर बड़ी-बड़ी बल्लियाँ और शहतीरें लगी हुई थीं। उस प्राचीर की मोटाई नीचे 76.5 मीटर और ऊपर 14 मीटर थी। इस प्राचीर से नगर की शिप्रा की बाढ़ से भी बचाया जाता था। कभी-कभी नगर की सुरक्षा के लिये लकड़ी के पटरों का भी उपयोग किया जाता था। इस प्रक्रिया से नगर को सुरक्षित करने का प्रयास अनेक बार किया गया।

प्राप्त मृणपात्र चित्रित भूरे वर्ग (P.G.W.) की बहुलता है, जो ताम्र पाषाणकाल का परवर्ती और उत्तरी काले ओकदार (N.B.P.) का पूर्ववर्ती है। इन पात्र खण्डों तथा अन्य साक्ष्यों से ऐसा प्रतीत होता है कि प्रथम काल का भौतिक सांस्कृतिक जीवन के विभिन्न स्तर थे। यहाँ मिलने वाले लघु पाषाणास्त्र (Microliths) और ताम्र उपकरणों से यह भी सिद्ध होता है कि लौह-युग में प्रविष्ट हो जाने के बाद भी उज्जैनवासी अपने भौतिक जीवन में परम्परावादी थे तथा लौह युग की उपलब्धियों के साथ-साथ ताम्र अथवा ताम्र पाषाण युगीन सांस्कृतिक उपादानों के साथ तालमेल बैठाये हुए थे। अतः अन्य प्राचीन नगरों की तरह उज्जैन मे मिश्रित अर्थव्यवस्था थी। उत्खनन से प्राप्त विशिष्ट धातु, उपकरण शीशे की चूड़ियाँ अर्द्ध कीमती पत्थरों ('अगेट' और 'जेस्पर') के मनके तांबे के आभूषण तथा इसी प्रकार के नाना प्रकार के की प्रसाधन सामग्री यहाँ के समुन्नत उद्योग और समृद्ध व्यापार का प्रमाण प्रस्तुत करते हैं। इनसे स्पष्ट होता है कि उज्जयिनी का औद्योगिक और व्यापारिक सम्बन्ध समसामयिक महत्वपूर्ण नगरों कौशाम्बी, अहिच्छत्र और हस्तिानुपर से भी रहा था। पाली साहित्य में आये यात्रा-विवरण भी इसको प्रमाणित करते हैं।

विभिन्न उद्योग और व्यापार से संपुष्ट प्राचीन उज्जैन की का मुख्य आर्थिक आधार कृषि था। उज्जयिनी के कृषक उन आरंभिक कृषकों में है, जिन्होंने सर्वप्रथम चावल की खेती की। आखेट और मछली पकड़ना भी उनकी वृत्ति थी। रक्तरंजित एक बाण, जो उज्जैनी उत्खन्न से उपलब्ध हुआ है, सम्भवतः उनके आखेट वृत्ति का परिचायक है।

मुलायम पत्थर या हड्डी पर बारीक नक्काशी करने में उज्जैनी के कारीगर कुशल थे। प्रथम काल की अन्तिम अवस्था में पकाई गयी ईंटों का उपयोग भी मिलता है। इसका उपयोग प्राचीरादि की

मरम्मत में हुआ।

1954-55 के उत्खनन से गढ़कालिका के ध्वंस को केवल दो प्रमुख सांस्कृतिक स्तर में बांटा गया था। 500 ई.पू. के बाद का समस्त काल-मुस्लिम युग तक केवल एक ही स्तर में अथवा (Period II) के अंतर्गत मान लिया गया। लेकिन परवर्ती वर्षों के उत्खनन से वास्तविक काल 2 (Period II) केवल 500 ई. पू. से प्रथम शती तक माना गया। इस प्रकार काल-3 के अंतर्गत शुंग से परमारयुग तक और काल-4 के अंतर्गत मुस्लिम शासन की अवधि निर्धारित किया गया। यह उत्खनन उज्जैनी के इतिहास को निर्बाध क्रम से प्रस्तुत करता है। दो सांस्कृतिक कालों के बीच सांस्कृतिक एवं राजनीतिक गतिरोध प्रमाणित नहीं करता। इस प्रकार उज्जैनी का द्वितीय सांस्कृतिक काल (Period II) एक समृद्धि का समय है। सार्वजनिक वास्तु निर्माण में पकाई ईटों का प्रयोग बढ़ा किंतु आवासीय निर्माण अभी भी कच्ची मिट्टी के ही बनते थे। कूप, प्राचीन चबूतरे और प्रणालियों के निर्माण में पकी ईटों का उपयोग अच्छा समझा जाने लगा। फर्श की पकी जड़ी ईंटें चमकदार ओप युक्त होती थी। नगर रचना और दुर्ग सन्निवेश भी पूर्वापेक्षा अधिक उन्नतशील हुआ। गन्दे पानी के निकास के लिये पक्की प्रणालियाँ (Ring well) बने और प्राचीर के महत्वपूर्ण स्थलों में पकी ईंटों का उपयोग होने लगा। पत्थर का उपयोग भी इस युग के वास्तु की विशेषता थी।

सम्प्रति-काल में उज्जैनी का लौह उद्योग अपेक्षाकृत आत्म निर्भर हो गया। उज्जैनी (अवंती) के शिल्पी सारे देश में, मुख्यतया दक्षिण भारत में जैसा कि 'मणि मेखलै' से पता चलता है, अपने 'कारु कुशलता' के लिये सराहे जाने लगे। पण्य द्रव्यों के रूप में जैसा कि उत्खनन संकेत देता है 'अगेट' के मनके यहाँ बनते थे और सारे उत्तरी भारत में भेजे जाते थे। उसके अतिरिक्त इस समय के उज्जैनी उद्योग चूड़ियाँ, हड्डी की नुकीली सुइयाँ, सुरमे की सलाखें, तांबे के कर्णफूल तथा अन्य आभूषण, हाथी दांत के जूड़े के पिन, बाण आदि के उत्पादन में भी विख्यात थे। लिपि और मुद्रा का उपयोग भी बहु प्रचलित हो गया।

काल-3 का स्तर अपने अन्तर्गत उज्जैनी के दीर्घकालीन इतिहास (शुंग से परमार राजवंश तक) समेटे है। उत्खनन की उपलब्धियाँ इस और तो संकेत देती हैं कि नगर रचना की प्रक्रिया मुख्यतया सार्वजनिक स्वच्छता और स्वास्थ्य के संदर्भ में बड़ी प्रगति हुई।

चतुर्थ काल में मुस्लिम आधिपत्यता की प्रमाणता के लिये कतिपय मुद्रा आदि की उपलब्धि महत्वपूर्ण है। इस समय के वास्तु असाधारण रूप से ध्वस्त मिले हैं जो उज्जैनी के पतन के कारणभूत आक्रमण आदि की पुष्टि करते हैं।

विक्रम विश्वविद्यालय के तत्वावधान में जो उत्खनन हुए उन दोनों ने भारतीय इतिहास में नई दिशा दी। प्रथम उत्खनन था कायथा का जहाँ सिंधु सभ्यता के समकालीन अवशेष प्राप्त हुए जो काल में समकालीन होते हुए भी प्रवृत्ति में उससे प्राचीन थे। मालवा ताम्राश्म सभ्यता जिसका ज्ञान नावड़ा टोड़ी, नागदा एवं एरण उत्खनन से ज्ञात हुआ था उससे प्राचीन आहाड़ एवं कायथा सभ्यता का अनुक्रम केवल कायथा से ही ज्ञात हुआ। 14 परीक्षण से जितनी तिथियाँ हमें कायथा से प्राप्त हुई शायद ही किसी अन्यत्र स्थान से मिली हों। मालवा की प्राचीनतम नागरी सभ्यता का ज्ञान इस उत्खनन से हो सका।

दूसरी महत्वपूर्ण खुदाई भीमबेटका की है। यह स्थान डॉ. वि.श्री. वाकणकर ने 1957 में ही खोजा था। यहाँ दुर्गा माता का एक आश्रम है। उसके बाबा शालिग्रामजी ने यहाँ के उत्खनन एवं संशोधन में पर्याप्त सहायता दी।

उत्खनन के समय जो सर्वेक्षण किया गया इसमें 627 गुफाएँ या शैलाश्रय मिले जिनमें भीम II बी-33, भीम III एफ 13, 15, 25 में उत्खनन किया गया। यहाँ के शैलाश्रयों में प्रागैतिहासिक चित्रण भी खूब किया है। 450 से अधिक चित्रित गुफाएँ हैं। प्राचीनतम चित्र मध्याश्म युग से प्रारंभ होते हैं। तथा 10वीं सदी तक चलते रहे। खुदाई के दौरान निम्न काल के अवशेष मिले हैं।

गेलाश्म उपकरणों की प्राप्ति और वह ही स्तरबद्ध अनुक्रम में यही इस उत्खनन की प्रमुख उपलब्धि है। पुरा पूर्वाश्म युग से इतिहास युग तक सतत अनुक्रम आज तक अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं हुआ है।

इस उत्खनन की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है चित्रण सामग्री का स्तरबद्ध अवस्था में प्राप्त होना। गेरू, हिडमची मेनेनिच के अनेक टुकड़े उपलब्ध हुए हैं, जो रंग बनाने में काम में लाये गये थे। इस उपलब्धि से अब हम यह तो निश्चित रीति से कह सकते हैं कि यहाँ के प्राचीनतम चित्र मध्याश्म युग (5000 से 10000 वर्ष पूर्व) के तो हैं ही। यद्यपि मोड़ी उत्खनन में यह प्रमाण मिला था किंतु यहाँ बड़े प्रमाण इनकी उपलब्धि ने कालानुक्रम निर्णय में बड़ी सहायता दी है।

पुस्तक चर्चा/राजेश्वर त्रिवेदी

वैदिक कालीन रूपंकर कलाएं

पुस्तक : वैदिक कालीन रूपंकर कलाएं
लेखक : डॉ. जगदीश चंद्रिकेश
प्रकाशक : अनन्य प्रकाशन
सी6/128 लारेंस रोड, दिल्ली ।
मूल्य : 500 रुपये।

वैदिक कालीन रूपंकर कलाएं इस शीर्षक से कला मर्मज्ञ जगदीश चंद्रिकेश की पुस्तक उस युग के शिल्प, वास्तु और आनुष्ठनिक कलाओं पर आधारित भी है, जिसका उल्लेख वेदों में कहीं ना कहीं अनेक स्तरों पर हुआ है वेद और उससे जुड़ी अनेक कलागत दृष्टियों का अध्ययन चंद्रिकेश जी ने वैदिक युगीन कलागत स्वरूपों की खोज की तरह इस पुस्तक में किया है। आठ अलग-अलग स्थानों वाली इस किताब में वैदिक युगीन साहित्य, रूपंकर कला, शिल्प पदावली, चित्रकला, मूर्तिकला वास्तुकला तथा सौंदर्य और दार्शनिक तत्व निरूपण शामिल है। मसलन, आर्ययुगीन वैदिक सभ्यता में नियमित इस्तेमाल की वस्तुएं जैसे मिट्टी, धातु,लकड़ी के बर्तन या पात्र चमड़े तथा कपड़े के अंग वस्त्र, आभूषण, आयुध उपकरण और इनमें सबसे महत्वपूर्ण यज्ञोपयोगी पात्र जैसे कलश, चमच, सुवा,भोजन तैयार करने के लिए चरूवा, उठा, अंगारि जैसे दैनिक इस्तेमाल के उपकरण जो आज भी हमारे समाज में थोड़े थोड़े परिवर्तनों के साथ मौजूद हैं। उनकी आरंभिक अवस्था या उनकी निर्मिती के उद्देश्य क्या थे, इन बातों को भी लेखक ने बहुत ही मनोयोग से अपनी इस शोधपरक पुस्तक में विस्तार से दर्शाया है। आर्यों ने अपनी धर्म संस्कृति के मूल केंद्र 'यज्ञों' से समस्त कलाओं का विकास किया। पुस्तक में चित्रकला के वैदिकयुगीन उपयोग जैसे: यज्ञ वेदियों की सजावट, अल्पना, अलंकरण आदि का चित्रण यज्ञीय कर्मकांडों के साथ चित्रकला के गहन संबंधों पर प्रकाश डाला गया है। चित्र कर्म का उपयोग वस्त्र आभूषण आदि को अलंकृत करने में किया जाता था चित्रकला वैदिक युग में इतनी विकसित हो चुकी थी कि वह यथार्थ का भ्रम पैदा कर देती है। मैत्रेय उपनिषद् का 'भित्तिचित्र रवि' का उल्लेख इसी बात को स्पष्ट करता है, साथ ही इस युग का जो सबसे महत्वपूर्ण चित्र साक्ष्य प्राप्त होता है, ऋग्वेद का वह मंत्र अग्नि को समर्पित है।

वेदकालीन किसी भी अवधारणा पर चर्चा में आर्यों के विषय में अक्सर बातें होती है, मसलन वह कौन थे, उनका मूल स्थान मूल संस्कृति और मूल जाति क्या थी ? वैदिक साहित्य एक ऐसी उच्चतर समझ वाली जाति का साहित्य माना जाता है जो आदिम अवस्था को बहुत पीछे छोड़ चुकी थी। पुरातत्व विशेषज्ञ, पुरातत्व शास्त्री और भाषाविद् लंबे समय से इस खोज में लगे हुए हैं कि आर्य कौन थे और वह कहां से कहां पहुंचे थे उनकी कला का उद्गम कहां और कैसे हुआ तथा उसका विकास किस प्रकार हो पाया ? इस पुस्तक के प्राक्कथन में लेखक ने कहा है कि ऋग्वेद' और अन्य वेद और सूत्र ग्रंथों में कला विषयक जो भी सामग्री उपलब्ध है, उसका उल्लेख प्रसंग वही हुआ है, ऋचाकारों का मूल उद्देश्य धर्म, दर्शन और यज्ञ कर्मकांड की व्याख्या करना था ।कला की चर्चा करना ना तो उनका अभिष्ठ था और न वहां पर इसके लिए अवसर था, फिर भी कला के संकेत प्रसंगवश इनमें उपस्थित हैं। कला संबंधी संकेत तत्कालीन समाज में कलाओं की समुन्नत स्थिति का चित्र प्रस्तुत करते हैं और यह स्थिति समूचे वैदिक साहित्य के काल की है। वैसे क्रमानुसार कलाओं में निश्चित क्रमिक विकास आया होगा, लेकिन इसके पुरातात्विक साक्ष्यों के अभाव में इनके विकास को मापा नहीं जा सकता ।% वेद युगीन कलागत तत्वों के संदर्भ में लेखक इसके उत्तरोत्तर विकास की अवस्था से अनभिज्ञ जरूर है परंतु फिर भी उनके तर्क और अन्वेषण शक्ति बहुत हद तक सार्थक दिखते हैं। ऋग्वेद के कथनानुसार देवशिल्पी प्रजापति विश्वकर्मा ने अपनी सृजनशक्ति से असंख्य रूप और रचना के माध्यम से सृष्टि को सृजित किया। सृष्टि में कभी तो वे दृष्टिगोचर हो कर विराजते हैं और उसी के माध्यम से अनुभूत सौंदर्य की व्याख्या भी करते हैं। वैदिक युगीन आर्य जाति के संदर्भ में यह कहा जाता है कि वह बहुधा कला सर्जन में गंभीर रूचि रखती थी। इस तरह के संकेत वैदिक कलाओं के अनेक विवरणों से प्राप्त होते हैं।

वेदकालीन किसी भी अवधारणा पर चर्चा में आर्यों के विषय में अक्सर बातें होती है, मसलन वह कौन थे, उनका मूल स्थान मूल संस्कृति और मूल जाति क्या थी ? वैदिक साहित्य एक ऐसी उच्चतर समझ वाली जाति का साहित्य माना जाता है जो आदिम अवस्था को

बहुत पीछे छोड़ चुकी थी। पुरातत्व विशेषज्ञ, पुरातत्व शास्त्री और भाषाविद् लंबे समय से इस खोज में लगे हुए हैं कि आर्य कौन थे और वह कहां से कहां पहुंचे थे उनकी कला का उद्गम कहां और कैसे हुआ तथा उसका विकास किस प्रकार हो पाया ? इस पुस्तक के प्राक्कथन में लेखक ने कहा है कि– 'ऋग्वेद और अन्य वेद और सूत्र ग्रंथों में कला विषयक जो भी सामग्री उपलब्ध है उसका उल्लेख प्रसंग वही हुआ है, ऋचाकारों का मूल उद्देश्य धर्म, दर्शन और यज्ञ कर्मकांड की व्याख्या करना था। कला की चर्चा करना ना तो उनका अभिष्ठ था और न वहां पर इसके लिए अवसर था, फिर भी कला के संकेत प्रसंगवश इनमें उपस्थित हैं। कला संबंधी संकेत तत्कालीन समाज में कलाओं की समुन्नत स्थिति का चित्र प्रस्तुत करते हैं और यह स्थिति समूचे वैदिक साहित्य के काल की है। वैसे क्रमानुसार कलाओं में निश्चित क्रमिक विकास आया होगा, लेकिन इसके पुरातात्विक साक्ष्यों के अभाव में इनके विकास को मापा नहीं जा सकता।' वेद युगीन कलागत तत्वों के संदर्भ में लेखक इसके उत्तरोत्तर विकास की अवस्था से अनभिज्ञ जरूर हैं परंतु फिर भी उनके तर्क और अन्वेषण शक्ति बहुत हद तक सार्थक दिखते हैं। ऋग्वेद के कथनानुसार देवशिल्पी प्रजापति विश्वकर्मा ने अपनी सृजनशक्ति से असंख्य रूप और रचना के माध्यम से सृष्टि को सृजित किया। सृष्टि में कभी तो वे दृष्टिगोचर हो कर विराजते हैं और उसी के माध्यम से अनुभूत सौंदर्य की व्याख्या भी करते हैं। वैदिक युगीन आर्यजाति के संदर्भ में यह कहा जाता है कि वह बहुधा कला सर्जन में गंभीर रूचि रखती थी। इस तरह के संकेत वैदिक कलाओं के अनेक विवरणों से प्राप्त होते हैं। यहां पर यह भी स्पष्ट होता है कि कर्मकांड की वैदिकयुगीन अवधारणा के चलते ही चित्रकला का विकास हुआ। बहुधा तो यज्ञ, हवन आदि कर्मकांड ही वैदिक युग के प्रथम महत्वपूर्ण कार्यों की तरह स्थापित हुए इनमें कलावत तत्वों का समावेश उन कर्मकांड को पूरा करने के लिए होता था। वैदिक कालीन चित्रकला को लेकर अनेक विद्वान एकमत भले ही ना रहे हो परंतु इस युग में चित्रकला की उपस्थिति को नकारा नहीं गया। लेखक का यह कथन है, क्योंकि अनेक और साक्ष्य कला को लेकर पाए जाते हैं जो वैदिक युगीन हैं जैसे: बिंदु और रेखाओं का विस्तार, किसी वस्तु या वस्तु का प्रारूप, रंग संयोजन, माप, रूप, प्रतीक आदि वैदिक साहित्य में सौंदर्य से संबंधित शब्द वृहद मात्रा में आते हैं जिनमें चित्रों की उपस्थिति का भान होता है। वैदिक युगीन इन चित्रों के प्रारूप का आशय सरल या आसान कृति तरह नहीं होते हुए एक जटिल ज्यामिति के लेखांकन का समूह माना जाता रहा है। इस ज्यामिति रचना के माध्यम से यज्ञ की वेदी में अग्नि को प्रविष्ट करने का विधान है। अनेक शिल्पों की जानकारी और उनके उपयोग के विषय में चंद्रकेश ने अपनी टिप्पणियों को बहुत ही विस्तार से पाठकों के सम्मुख रखा है। वैदिक युगीन कला और कलागत माध्यम में एक सबसे महत्वपूर्ण तत्व वास्तुकला का भी रहा है जिससे भविष्य तक की वास्तु अवधारणाओं और समाज में स्थापित किया 'स्थापत्ये: कर्म स्थापत्यम' के अनुसार स्थापन का कार्य स्थापत्य है।

लेखक ने वास्तु विद्या की शास्त्र वास्तु शास्त्र का शाब्दिक अर्थ स्थापित विज्ञान निरूपित किया है। उनके अनुसार वास्तु शास्त्र इतने अधिक लोगों को अपने में समाहित किए हुए हैं जिसे स्थापत्य कहा जाता है। उसके कार्य क्षेत्र की सीमाओं से वास्तु शास्त्र की सीमाएं कहीं अधिक व्यापक है। यही अंतर इन दोनों वास्तु और स्थापत्य पदों में परिलक्षित होता है। वास्तु पद आवास निर्माण योजना और आवास के अर्थ में ऋग्वेद में अनेक स्थानों पर उपलब्ध हैं। यज्ञ विधियों के विभिन्न प्रारूपों और उसमें इस्तेमाल की गई थी। अनेक स्तरों पर उसके इर्द–गिर्द फैले आसन वास्तु की आरंभिक विधा के उत्कृष्ट नमूने पुस्तक में परिलक्षित होते हैं। पुस्तक में सोम, याग, महावेदी, अग्नि, होत्रवेदी, और श्येनवेदि के रेखांकनों और उनके स्थलों को विस्तार से दर्शाया गया है। उत्सव शाला, समाधि स्थल, सेतु,अतिथि शाला सभा भवन के स्तंभ और भवन निर्माण हेतु भूमि चयन इस युग में वास्तुकला पर आधारित विधाओं की तरह ही थे और वे सभी पूर्णत:सौंदर्य अवधारणा पर टिके थे। सुंदर एवं दार्शनिक तत्व निरूपण वाले पुस्तक के अध्याय में सौंदर्य की वैदिक व्याख्या है जो कलाओं से इधर भी एक विराट विश्व अनुभूति के स्तर पर निर्मित करती है। यह वैदिक कालीन रूपंकर कलाओं अर्थात चित्र, मूर्ति और स्थापत्य में आर्यों के सौंदर्य की अवधारणा को स्पष्ट रूप में प्रकट करती है। वेदों में सौंदर्य की विवेचना, परिकल्पना चेतना और प्रतीकों का इस्तेमाल और सैकड़ों ऐसे शब्दों का भंडार है जो सौंदर्य की व्याख्या को जन्म देते हैं। आज की तरह उस युग में उन्होंने सौंदर्य को ना तो अलग शास्त्र माना और ना ही उन कलाओं में उसे किसी तरह के भेद को स्थापित करने का प्रयास किया। समस्त वैदिक योग इन रुपनगढ़ कलाओं का मुख्य आधार तो यज्ञ हवन और कर्मकांड ही थे जो अपने होने या घटने में ऐसी कलात्मक रूचियों, चिन्हों, परंपराओं और संस्कृति को कालांतर के लिए ऐसे महत्वपूर्ण सूत्र प्रदान कर गए हैं जिन्होंने कलाओं की वैश्विक अवधारणाओं को स्थापित किया है। डॉ. जगदीश चंद्रिकेश की शोधपरक पुस्तक ने वैदिक युग इन सूक्ष्म तत्वों को भी उकेरा है जो आमतौर पर हमारे जीवन आचार, विचार और संस्कार में शामिल तो रहे परंतु उन्हें हमने सूक्ष्मता से नहीं आंका। फिर चाहे वे रूपंकर कलाओं के माध्यम से ही क्यों ना हों।

'वैदिक युगीन कला और कलागत माध्यम में एक सबसे महत्वपूर्ण तत्व वास्तुकला का भी रहा है जिससे भविष्य तक की वास्तु अवधारणाओं और समाज में स्थापित किया 'स्थापत्ये: कर्म स्थापत्यम' के अनुसार स्थापन का कार्य स्थापत्य है।'

इसी पुस्तक से

रे सोये विक्रम जाग! जाग!!

रे सोये विक्रम जाग! जाग!!
फूल खिले शुभ प्रथम किरण से,
कुसुमित वन सुन्दर जन जीवन
सौरभ वैभव के विकास से
महक उठे नव भारत-नन्दन
मुखरित हो स्वर्णिम सुहास ले नवल उषा का राग
पीतारुण टहनी पर बैठे,
गावें प्रमुदित गीत विहंगम
जन मन से बह प्रेम-तरंगिणी
उर-उर में हो पावन संगम
खेलें जीवन वसुन्धरापर प्रेम-बसन्ती फाग! फाग!
जागो स्वागत सखे तुम्हारा
संसृति के इन थोड़े पल
जन-जन की टोली मिट जायें
राष्ट्र-राष्ट्र हो एक सभी मिल
बन जायें प्रेमाम्बर सुंदर (ये) बिखरे बिखरे ताग! ताग!!
जग जग रे ! जग गहन निशा से
हर ले जीवन का दुर्दम तम
अन्ध अचल की ओट त्याग कर
चमको द्युति भर नयन दिव्य तम
जल जायें तेरी ज्योति में दुष्ट कीट तन त्याग त्याग
द्रुत झर जायें जीर्ण पत्र सब
बरसो फिर से प्रेम श्याम घन
अमराई से कोकिल कूके
भरें पुष्प गण मधु रस से मन
बुझ जायें वसुधा पर बिखरी ज्वलित धधकती आग! आग!!

-शलभ

महाराजा विक्रमादित्य शोध पीठ संस्थान स्वराज संस्थान संचालनालय, संस्कृति विभाग मध्यप्रदेश शासन के लिए 1, उदयन मार्ग, उज्जैन-456010 से प्रसारित. सम्पादक श्रीराम तिवारी. समन्वयक मनोज कुमार.

आलेख सेवा नि:शुल्क वितरण के लिए. फोन : 0734-2521499 0755-2660407 e-mail : mvspujjain@gmail.com,vikramadityashodhpeeth@gmail.com